जीवन के दिन-रैन का, कैसे लगे हिसाब

प्रफुल्ल कोलख्यान

‘अब कहाँ रस्म घर लुटाने की
 बर्कतें थी शराबखाने की
कौन है जिससे गुफ़्तुगू कीजे
जान देने की दिल लगाने की
बात छेड़ी तो उठ गई महफ़िल
उनसे जो बात थी बताने की
साज़ उठाया तो थम गया गम-ए-दिल
रह गई आरजू सुनाने की
चाँद फिर आज भी नहीं निकला
कितनी हसरत थी उनके आने की’

- फ़ैज अहमद फ़ैज
(अब कहाँ रस्म घर लुटाने की)

आनेवाले समय में उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के कोलाहाल से भरा यह दौर किस राजकीय प्रवृत्ति के लिए याद किया जायेगा? नायकों और खलनायकों का नहीं यह दौर छलनायकों का है। क्या इस दौर को छलयुग के नाम से जाना जायेगा! एक ओर यह समय जीवन में दृश्य और श्रव्य के बढ़ते वर्चस्व का है। दूसरी ओर बहुत बड़ी आबादी की दयनीयताओं के अदृश्य और यथार्थताओं की गुहार के अश्रव्य बनने का

समय है। जीवन में कट्टरता का प्रवेश उदारीकरण के आवरण में हो रहा है। निजीकरण के हंगामे के बीच निजत्व के सत्व के व्यर्थीकरण की प्रक्रिया जारी है। यह दौर सामूहिकता के झुंड में बदलने का है। यह दौर समुदायों के भूमंडल को स्वार्थ-संपोषित संकोचन के खतरों में डाल रहा है। इनके दुष्प्रभाव में व्यक्ति के अंत:करण का आयतन संकीर्ण बन रहा है। मुद्दों पर मतभेद हो सकते हैं लेकिन अंतत: यह दौर कट्टरता के दौर के रूप में ही चिहिन्त किया जा सकता है। ऐसे दौर की लाक्षणिकताओं को विश्वयनीय ढंग से दृश्य बनाना और समझना एक कठिन काम है। इस कठिन काम में प्राण-पण से लगे लोगों की आँख में समय के सपना की बसवाट खोजी जा सकती है। यह सपना अरुण कुमार त्रिपाठी की आँख में भी है। इस सपना में विकल्प और पुनर्निर्माण के संकल्प का सदावास होता है। कहना न होगा कि विकल्प के संधान का गहन संबंध बौद्धिक विमर्शों से और सामाजिक-अंतर्बद्धताओं के गुणसूत्रों के पुनर्निर्माण का संबंध जन आंदोलनों से होता है। किसी भी समय में बौद्धिक विमर्श और आंदोलन को परस्पर संवादी बनाना और उनके अंतस्संबंध के सूत्रों को सुलझाना बड़ी चुनौती होती है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो, हमारे समय में भी बौद्धिक विमर्शों के भागीदार अक्सर जन आंदोलनों से दूर-दूर ही रहते हैं, अधिकतर समय मानसिक रूप से भी। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि जन आंदोलनों को नेतृत्व देनेवाले लोग, सामान्यत: बौद्धिक विमर्श के राजनीतिक महत्त्व से आगे बढ़कर उसके सामाजिक महत्त्व को अक्सर ठीक से समझ और स्वीकार नहीं पाते हैं। जीवन के दिन-रैन का हिसाब लगाना एक कठिन काम होता है और ‘खोया हुआ सा कुछ’ की एहसास कराता है। निदा फ़जली के शदों में ‘खोया हुआ सा कुछ’ विमर्श के माथे पर चिंता की लकीर बनकर इस तरह उभरती है कि ‘जीवन के दिन-रैन का, कैसे लगे हिसाब/ दीमक के घर बैठकर, लेखक लिखे किताब’।

अरुण कुमार त्रिपाठी की किताब ‘कट्टरता के दौर में’ ‘दीमक के घर बैठकर’ नहीं लिखी गई है। यह किताब अपने समय के सवालों पर गंभीरता और समझदारी के साथ विचार करते हुए इनके पाठ्य को दृश्य-श्राव्य बनाने की कोशिश करती है; जीवन के दिन-रैन का हिसाब लगाने की कोशिश करती है। अरुण कुमार त्रिपाठी एक प्रखर पत्रकार हैं। वे तथाकथित ‘तटस्थ’ बौद्धिक नहीं हैं। कहना न होगा कि विषम समाज में तटस्थता पक्षपात का पासंग बन जाती है। अरुण कुमार त्रिपाठी उन थोड़े-से लोगों में हैं जो बौद्धिक विमर्श में भी भागीदारी करते हैं और कुछ दूरी तक ही सही अपने समय के जन आंदोलन के साथ कदम मिलाकर चलने की भी कोशिश करते हैं। ‘कट्टरता के दौर में’ शामिल टिप्पणियाँ अपने समय की चिंताओं और सरोकरों से उनके गहन जुड़ाव से निकलकर आई हैं। ‘लेखक की बात’ से सहमत होना ही चाहिए कि ‘उदारीकरण के नाम से चर्चित इस दौर को कट्टरता का दौर कहने के पीछे न तो कोई पूर्वग्रह है न कोई हठ।

जातिवाद, सांप्रदायिकता और भूमंडलीकरण के सवालों से टकराते समय किसी अति तटस्थ बौद्धिक को भी इस दौर की कट्टरता का अहसास हो सकता है।'

लेखक बाजार को एक कट्टर विचार के रूप में देखता है। लेखक के रूप में अरुण समय की प्रमुख प्रवृत्तियों और चित्तवृत्तियों के राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्रोतों को पहचानते हैं। इस पहचान का इस्तेमाल वे बौद्धिक विमर्श में करते हैं। सामाजिक गत्यात्मकता की धुरी की निर्मिति में होनेवाले परिवर्त्तन के प्रभाव को विमर्श के प्रसंग में अनिवार्यत: बनाये रखना, कट्टरता को पहचानने और उससे बचाव में लगे विमर्शकारों में, अरुण कुमार त्रिपाठी को विशिष्ट बनाता है। कुछ असहमतियों के बाबजूद कहना होगा कि इस किताब में संकलित लगभग साठ लेखों की तार्किकता और बौद्धिक ईमानदारी गौर करने के लायक है। सारे लेख पठनीय हैं और अपने समय को समझने के लिए आवश्यक दृष्टि प्रदान करते हैं। जातिवाद, सांप्रदायिकता और भूमंडलीकरण के सवालों के संदर्भ में यह किताब महत्त्वपूर्ण है। हिंदी में इस तरह के लेखों की किताब का आना महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए। इसमें संकलित सभी लेखों और टिप्पणियों का अलग-अलग उल्लेख यहाँ संभव नहीं है, शायद जरूरी भी नहीं। लेकिन यहाँ, इतना उल्लेख करना जरूरी है कि अलग-अलग होने के बावजूद ये लेख आपस में जुड़े हुए हैं। दृष्टि की केंद्रीयता पूरी किताब में एक सूत्र का काम करती है। महत्त्वपूर्ण है इस केंद्रीय दृष्टि-सूत्र का संकेत करना।

'भूमंडलीकरण' हमारे समय का सबसे कठिन प्रसंग है। 'भूमंडलीकरण' सत्ता का विचार है। नव-साम्राज्यवाद की ताकत के साथ जीवन में यह आज नये सिरे से प्रकट हुआ है। हर निर्मिति के अंदर उसके अनिवार्य अंतर्विरोध अंतर्निहित हुआ करते हैं। भूमंडलीकरण की नाभिकीयता में इसके अंतर्विरोध अंतर्निहित हैं। भूमंडलीकरण के सामने चुनौती सिर्फ अपने अंतर्विरोध से निपटने की ही नहीं बल्कि गहन सामाजिक विरोध को झेलने की भी है। भूमंडलीकरण अपने मूल चरित्र में समाज-रोधी है। कुछ लोग उत्साहित होकर, तो कुछ लोग दुखी होकर अर्थात विपरीत दिशा से चलकर एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचने लगते हैं। निष्कर्षत:, ऐसा मानने लगते हैं कि भूमंडलीकरण का विरोध संभव ही नहीं है। यह मान्यता पूरी तरह गलत है। सही बात तो यह है कि भूमंडलीकरण हमारे समय का निर्विरोध विचार नहीं है। वंचित-शोषित समाजों की ओर से इसका विश्व-व्यापी विरोध कम उल्लेखनीय नहीं है। भूमंडलीकरण के संदर्भ में समाज और राष्ट्र के संबंधों में आये नये तनावों को समझना होगा।

प्रथम चरण में भूमंडलीकरण भले ही सफल प्रतीत हो रहा हो लेकिन इसके मूल में एक भ्रमपूर्ण भरोसा है। भरोसा यह कि इसका 'सुफल' एक दिन आम आदमी की पहुँच में जरूर आयेगा। जिस दिन यह भ्रम टूटेगा भूमंडलीकरण की सारी परियोजनाएँ भहरा कर गिर

पड़ेंगी। भ्रम तो एक-न-एक दिन टूटता ही है! इसलिए भूमंडलीकरण के हितैषियों के विचार में इसके टिकाऊ होने के बारे में बहुत संदेह है। सभ्यता के विकास के इतिहास पर ध्यान देने से यह बात बिल्कुल साफ-साफ समझ में आ सकती है। विकास का प्रत्येक चरण अपने साथ अपने समय का अंतर्ज्ञान और नई अपेक्षाएँ लेकर आता है। इसलिए, भूमंडलीकरण के तीव्र विरोध के चरित्र को भी सावधानीपूर्वक समझना जरूरी है। सावधानी यह कि भूमंडलीकरण के विरोध की तीव्रता को भूमंडलीकरण की विफलता मानना ठीक नहीं है। दुनिया भर की सत्ताओं के ध्रुवीकरण की धुरी पर नाच रहे भूमंडलीकरण के रथ का पहिया अभी बहुतों को कुचलेगा। सभ्यता अपने इतिहास के सबसे बड़े संघात के सम्मुख है। भूमंडलीकरण की सफलता-विफलता की अनिवार्यता अपनी जगह है। लेकिन उत्साहाधिक्य के कारण इस चरण पर इसकी सफलता-विफलता की कहानियों पर मन से भरोसा करना ठीक नहीं है। भूमंडलीकरण के अभियान को सफल-मनोरथ या भग्न-मनोरथ मान लेना चकित और भ्रमित करता है। ऐसे में यह समझ पाना सचमुच कठिन होता है कि क्यों ‘यह विचित्र संयोग है कि एक तरफ भूमंडलीकरण की विफलता सामने आ रही है और दूसरी तरफ उसका जादू सिर चढ़कर बोल रहा है। भूमंडलीकरण की नाकामी संबंधी रपटों, तर्कों और सैद्धांतिक दस्तावेजों की कमी नहीं है। वे सब किसी सामान्य पत्रकार या बुद्धिजीवी द्वारा नहीं बल्कि विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों द्वारा लिखे गये हैं। वामपंथ से लेकर दक्षिणपंथ तक इसके विरोध में लामबंद दिखाई पड़ते हैं। हालाँकि दोनों पक्ष एक-दूसरे के अभियान को पाखंड बताते हैं फिर कुछ मध्यमार्गी मंचों पर एक साथ खड़े भी मिलते हैं। कई बार तो लगता है वामपंथ और दक्षिणपंथ का मिलन बिंदु यही होगा।’

यह सच है कि भूमंडलीकरण के विरोध ने वैश्विक स्तर पर दक्षिण और वाम के दृश्य अंतर को पाटा है। इस सच का एक अन्य पहलू है। इस अन्य पहलू के अदृश्य रह जाने से समझ के उलझ जाने का खतरा बढ़ जाता है। यह सच है कि भूमंडलीकरण के विरोध ने ही नहीं बल्कि इसके समर्थन ने भी कुछ हद वैश्विक स्तर पर दक्षिण और वाम के दृश्य अंतर को पाटा है। असल में भूमंडलीकरण के दबाव में वाम-दक्षिण की विभाजक रेखा की वक्रताओं में नई जटिलताएँ आई हैं। वाम और दक्षिण के विचार-परिपथ में आनेवाला मिलान बिंदु उनका कटान बिंदु भी है। इस बात को समझना होगा कि भूमंडलीकरण की लिप्साओं के राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संदर्भों का गहरा संबंध दक्षिणपंथ से है। पूँजी का निवास सभ्यता के दक्षिण-भाग में होता है। दरअसल, भूमंडलीकरण और दक्षिणपंथ के टकराव के मूल में राष्ट्रीय-पूँजी का बहुराष्ट्रीय-पूँजी से टकराव है। यह टकराव बड़ी मछलियों के द्वारा निगले जाने पर छोटी मछलियों के द्वारा किये जानेवाले प्रतिरोध की तरह का है। कभी-कभी छोटी मछलियों को निगलना जितना आसान होता है उसे हजम करना उतना ही मुश्किल होता है। बहुराष्ट्रीय पूँजी की दुष्टताएँ अंततः राष्ट्रीय पूँजी को विषाक्त बना देती हैं। दक्षिणपंथ का

भूमंडलीकरण-विरोध राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय पूँजी का आंतरिक विरोध है। दक्षिणपंथ के भूमंडलीकरण विरोधी अभियान के मूल में वर्चस्व कायम करने की आकांक्षा रखनेवाली विभिन्न चरित्री पूँजियों का स्वार्थ है। दक्षिणपंथ का भूमंडलीकरण अभियान पूँजी के अंतर्विरोध से अंतर्बद्ध है। वामपंथ का विरोध श्रम पर पूँजी के और मनुष्य पर बाजार के वर्चस्व के सामाजिक विरोध से संबद्ध है। भूमंडलीकरण के प्रति आकर्षण किस में है? दुनिया भर की सत्ताओं के केंद्र में भूमंडलीकरण के आकर्षण विन्यस्त हैं। भूमंडलीकरण सत्ता-विमर्श है। स्वाभाविक है कि भूमंडलीकरण-विरोध का भी एक पक्ष एक अर्थ में सत्ता-विमर्श ही है। 'भूमंडलीकरण की विफलता की सैद्धांतिक और वस्तुगत स्थितियों के बावजूद उसके प्रति जानलेवा आकर्षण न तो उसे मरने देता है और न उसके विरोध में कोई आंदोलन खड़ा करने देता है। बल्कि यह, स्थितियाँ आंदोलनकारियों को भी दोहरे चरित्र में फँसा देती है। क्योंकि यह आंदोलन है तो मध्यवर्गीय आंदोलन ही। चाहे आजादी बचाओ आंदोलन हो या स्वदेशी आंदोलन, मजदूर वर्ग तक उनकी पहुँच है ही नहीं और मध्यवर्ग में भी वह अपना प्रभाव नहीं बना पाया है।'

यह सच है कि मध्यवर्गीय आंदोलनों की अपनी सीमाएँ होती हैं। इन सीमाओं को अतिक्रमित कर उसके पार की सचाइयों को देख पाना उनके लिए संभव नहीं हुआ करता है। यहाँ गौर करने करने की बात यह है कि भूमंडलीकरण के विरोध में मजदूरों की पहल इन मध्यवर्गीय आंदोलनों से स्वायत्त और प्रभावी कार्रवाई है। सही बात यह है कि मजदूरों का प्रतिरोध 'आजादी बचाओ आंदोलन' और 'स्वदेशी आंदोलन' जैसे किन्हीं आंदोलनों का अधीनस्थ नहीं है। भारत में भूमंडलीकरण के उद्दाम वेग को लगाम डालने में जो थोड़ी बहुत सफलता मिली है उसका बहुत बड़ा श्रेय इस दौर के मजदूर आंदोलन को देना चाहिए। अरुण कुमार त्रिपाठी एक सजग पत्रकार और आंदोलन कर्मी हैं। उनकी किताब 'कट्टरता के दौर में' अपने समय के सवालों को समझने की पहल करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसलिए, इस महत्त्वपूर्ण किताब में पिछले बारह-चौदह वर्षों में मजदूर आंदोलनों की गति-मति पर सही ढंग से विचार की गुंजाइश स्वाभाविक रूप से बननी चाहिए थी।

इस किताब में भूमंडलीकरण-विरोधी अभियान के चरित्र को समझने के लिए कुछ बहुत जरूरी सवाल उठाये गये हैं। गौर करने लायक सवाल यह कि 'अगर भूमंडलीकरण का विरोध राजनीतिक आंदोलन है तो यह राष्ट्रवाद की सौ साल पुरानी अवधारणा को लेकर क्यों चल रहा है? पूँजीवाद के आरंभिक दौर के राष्ट्रवाद और 'थर्ड वेव' के दौर के राष्ट्रवाद में अंतर होना चाहिए या नहीं?' होना चाहिए और है भी! सच यह है कि न तो आज का भूमंडलीकरण 'राष्ट्रवाद की सौ साल पुरानी अवधारणा' पर काम कर रहा है, और न भूमंडलीकरण-विरोध ही इस अवधारणा से अपने को जोड़ रहा है। पूरी दुनिया में 'राष्ट्र-भक्ति' की अंतर्वस्तु में तात्त्विक अंतर आया है; 'राष्ट्र भक्तों' का मिजाज बदल चुका

है। यह सच है कि भारतीय राजनीति के वर्णपट्ट पर कुछ राजनीतिक समूह 'राष्ट्र-भक्ति' के बासी रंगों से अपनी राजनीति की नई अल्पना रचने की कोशिश में डूबे हैं। इस कोशिश से भ्रमित होने के अपने खतरे हैं। इन राजनीतिक समूहों की 'राष्ट्र-भक्ति' के बासी रंगों में संस्कृति के उच्छिष्ठ अंश घुलेमिले हैं। यहाँ यदि सावधानी से 'अंतर्राष्ट्रवाद' को भूमंडलीकरण से मिलाकर देखा जाये तो भूमंडलीकरण के मर्म में निहित अधि-राष्ट्रवाद (Trans-Nationalism) अधिक सफाई से समझ में आ सकता है। असल में, भूमंडलीकरण के विरोध का महत्त्वपूर्ण पक्ष राष्ट्रीय न होकर सामाजिक है। अरुण कुमार त्रिपाठी जिस शिद्दत से प्रश्न उठाते हैं, असहमतियों की गुंजाइश को बरकरार रखते हुए भी, उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए।

अरुण कुमार त्रिपाठी बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के उपनिवेश-विरोधी चरित्र और भूमंडलीकरण के विरोध के चरित्र पर विचार करते हैं। 'जिस तरह स्वाधीनता संग्राम के राष्ट्रीय नेताओं का आर्थिक दृष्टिकोण पूँजीवादी था उसी तरह भूमंडलीकरण विरोधी ज्यादातर नेताओं का नजरिया पूँजीवाद के दायरे से बाहर नहीं आ पाता है। विदेशी पूँजी का विरोध करते समय यह देशी पूँजी के प्रति उदार हो जाता है। जबकि देशी पूँजी न तो आर्थिक राष्ट्रवाद के प्रति उदारता दिखाती है और न मजदूरों के प्रति।' पूँजी और मनुष्य के संबंधों पर नये सिरे से विचार करने की जरूरत को रेखांकित करना एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। कुछ जगहों पर चलताऊ टिपपणियाँ की गई हैं। बड़ी बात बेहद हल्के ढंग से कही गई है। इन से बचा जा सकता था।

अधि-राष्ट्रीयता (Trans-Nationality) के संदर्भ में अरुण कुमार त्रिपाठी की टिप्पणी ठीक ढंग से समझी जा सकती है। 'आज दुनिया समाजवादी आर्थिक राष्ट्रवाद और पूँजीवादी आर्थिक राष्ट्रवाद के दायरे से बाहर निकल चुकी है। विश्व पूँजीवाद या भूमंडलीकरण का विकल्प उसी दायरे में तलाशने से निराशा हो सकती है। इसलिए इसका विकल्प वैकल्पिक अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, वैकल्पिक क्षेत्रीय आर्थिक व्यवस्था और नए गठजोड़ों में तलाशना होगा।' वैकल्पिक क्षेत्रीय आर्थिक व्यवस्था और नए गठजोड़ एक दूसरे से अलगाव में नहीं रह सकते हैं। इनका पारस्परिक संबंधों का न्यायपरक और सामंजस्यपूर्ण हो पाना अंतर्राष्ट्रवाद में ही संभव हो सकता है। नव-सामाजिक आंदोलनों के कार्यभार में शामिल वैकल्पिक क्षेत्रीय आर्थिक व्यवस्था और नए गठजोड़ अपने प्रथम चरण में भले ही कुछ हद तक स्वायत्तता को कायम रखने में सफलता हासिल कर ले, किंतु अंतत: अपनी स्वायत्तताओं के कुछ अंश का उसे विसर्जन करना ही पड़ेगा। ऐसा इसलिए कि आज के समय में संयुक्ति एवं सामान्यताओं (Connectivity and Commonalties) के कारण परसपराभिमुखताओं (Convergence) और अंतर्संबद्धताओं का महत्त्व नये सिरे से सामने आया है। ऐसे में संबंधों की अहमियत

को नजरअंदाज करना संभव ही नहीं है। कहना न होगा कि संबंध के लिए, किसी-न-किसी हद तक, स्वायत्तता का विसर्जन तो करना ही पड़ता है। अरुण कुमार त्रिपाठी की किताब ‘कट्टरता के दौर में’ हमारे समय के कई महत्त्वपूर्ण संदर्भों को समझने में मददगार है। दलित, स्त्री एवं कई जरूरी संदर्भों को उठाने के कारण महत्त्वपूर्ण है। समय के सरोकारों पर चिंतनशील रुख अख्तियार करनेवाले पाठकों के लिए एक बहुत जरूरी किताब है। लेकिन, ‘घर लुटाने की रस्म’ का क्या होगा!

संदर्भः कट्टरता के दौर में, अरुण कुमार त्रिपाठी
राधाकृष्ण प्राइवेट लिमिटेड, पहला संस्करण: 2005

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान